'बराबरी की भाषा' विषय पर परिचर्चा एवं वाद-विवाद संवाद आयोजित

नवभारत टाइम्स (NBT) की 'बराबरी की भाषा' पहल के तहत दिल्ली विश्वविद्यालय के माता सुंदरी कॉलेज में 'कैंपस डिबेट: क्यों ज़रूरी है बराबरी की आवाज़' का आयोजन किया गया। इस विस्तृत परिचर्चा में इस बात पर गहन विचार-विमर्श किया गया कि कैसे हमारी भाषा और उसमें इस्तेमाल होने वाले शब्द समाज में लैंगिक समानता और महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं।

जिस भाषा और शब्दों के माध्यम से हम दुनिया को समझते और व्यक्त करते हैं, उसी भाषा में मनुष्य समाज में अपनी पहचान और स्थान भी तलाशता है। सदियों से भाषा में जो शब्द और रचनाएं दर्ज हैं, वे कई बार महिलाओं को अनजाने में ही हाशिए पर लाकर खड़ा कर देती हैं। नवभारत टाइम्स की 'बराबरी की भाषा' मुहिम एक ऐसी ही संवेदनशील कोशिश है, जो समाज के उन खामोश और अनदेखे सवालों को स्वर देती है। जब भाषा में बदलाव होता है, तो वह केवल वाक्यों या व्याकरण का सुधार नहीं होता, बल्कि उससे लोगों की सोच, संवेदनाएं और पूरे समाज की दिशा बदलती है। दिल्ली विश्वविद्यालय के माता सुंदरी कॉलेज में आयोजित इस परिचर्चा में छात्राओं, शिक्षकों और वरिष्ठ पत्रकारों ने इस विषय के विभिन्न पहलुओं पर खुलकर अपने विचार रखे।

इस मुहिम की पृष्ठभूमि और उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए एनबीटी के रेजिडेंट एडिटर रामेश तिवारी और फीचर एडिटर नमिता जोशी ने बताया कि हमारी भाषा में अनेक पद और पेशे ऐसे हैं, जहां पुल्लिंग शब्दों को ही स्वाभाविक या डिफ़ॉल्ट मान लिया गया है, जैसे शिक्षक, वैज्ञानिक, सैनिक या पायलट। जब भी किसी महिला को इन भूमिकाओं में दर्शाना होता है, तो उनके आगे 'महिला' शब्द जोड़कर 'महिला डॉक्टर', 'महिला वैज्ञानिक' या 'महिला पायलट' कहना पड़ता है। इस परिचर्चा का मुख्य प्रश्न यही था कि क्या किसी महिला की पेशेवर पहचान को दर्ज करने का यही एकमात्र तरीका है, या भाषा का ढांचा ऐसा होना चाहिए जो स्वतः ही समानता को दर्शाता हो।

विशेषज्ञों और वरिष्ठ संपादकों ने भाषा और जेंडर के संबंधों पर अपने अलग-अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत किए। वरिष्ठ पत्रकार और लेखक नरेंद्र नागर का कहना था कि भाषा शब्दों के आधार पर किसी व्यक्ति को ताकतवर नहीं बनाती, बल्कि व्यक्ति का काम और उसका योगदान ही उसे असली पहचान और ताकत देता है। उनके अनुसार कृत्रिम रूप से भाषा बदलने के बजाय कार्य और व्यक्तिगत क्षमता को प्रधानता मिलनी चाहिए। वहीं दूसरी ओर शिक्षाविद डॉ. संजय ने तर्क दिया कि भाषा का संवेदनशील होना निस्संदेह आवश्यक है, लेकिन जेंडर-न्यूट्रल भाषा बनाने की होड़ में स्त्रीत्व की विशिष्ट शब्दावली और महिलाओं की अपनी पहचान को मिटाना उचित नहीं होगा। महाविद्यालय की प्राध्यापक चारुलिका धवन ने भाषा में निहित लैंगिक मानदंडों पर प्रहार करते हुए कहा कि जब हम झांसी की रानी की वीरता की प्रशंसा में यह कहते हैं कि वह 'मर्दानी की तरह लड़ी', तो हम अनजाने में ही वीरता और साहस का मानदंड पुरुष को मान लेते हैं। महिला की अपनी वीरता और सामर्थ्य को उसके अपने जेंडर के संदर्भ में सम्मान और पहचान मिलनी चाहिए, न कि उसे किसी पुरुषत्व के पैमाने पर मापा जाना चाहिए।

कैंपस डिबेट के दौरान युवा छात्राओं के बीच इस विषय पर एक जीवंत और दोहरे दृष्टिकोण वाली बहस देखने को मिली। भाषा में बदलाव के पक्षधर तर्कों को प्रस्तुत करते हुए याशिका ने कहा कि समाज में वास्तविक निष्पक्षता लाने के लिए भाषा का बदलना बेहद जरूरी है। जब हम डॉक्टर या वैज्ञानिक के आगे 'महिला' लगाते हैं, तो यह संदेश जाता है कि पुरुष का उस पद पर होना सामान्य है और महिला का होना कोई अपवाद। तनीशा ने जोर देकर कहा कि बचपन से ही बच्चा भाषा सीखता है और यदि भाषा में शुरुआती स्तर पर ही भेदभाव समाहित है, तो उसे बदलना अनिवार्य हो जाता है। अन्वेषा चक्रवर्ती का मानना था कि भाषा ने समाज में बहुत गहराई तक यह तय कर दिया है कि लड़कों और लड़कियों की भूमिकाएं और खिलौने क्या होंगे, इसलिए भाषा के ऐसे अनुचित ढांचों को हटाना चाहिए। चेतना और सारा असीम ने यह रेखांकित किया कि भाषा केवल संवाद का जरिया नहीं है बल्कि यह हमारी सोच और

सामाजिक मानसिकता का निर्माण करती है। जब नेता, मंत्री या डॉक्टर सुनते ही दिमाग में खुद-ब-खुद पुरुष की छवि बनती है, तो यह स्पष्ट होता है कि शब्द ही समाज की सोच तय कर रहे हैं।

इसके विपरीत, कुछ छात्राओं ने भाषा से अधिक सामाजिक क्रियान्वयन और सोच के बदलाव को प्राथमिकता दी। नेहा कपूर का कहना था कि भाषा बदलने से ज्यादा आवश्यकता स्पष्टता और सीधी सोच की है। केवल शब्दों में बदलाव कर देने से समाज में महिलाओं को वास्तविक सम्मान और बराबरी मिल जाएगी, यह सोचना पूरी तरह सही नहीं है। दिवाकर साक्षी ने सवाल उठाया कि यदि सभी शब्दों को जेंडर-न्यूट्रल कर दिया जाएगा, तो क्या इससे महिलाओं की अपनी विशिष्ट पहचान कमजोर नहीं पड़ेगी? अस्मिता और भूमिका ने तर्क दिया कि 'खिलाड़ी' जैसे शब्द किसी जेंडर तक सीमित नहीं हैं, लेकिन समाज की मानसिकता ने उस पर पुरुष वर्चस्व की छवि बना दी है। इसलिए असली संघर्ष भाषा के शब्दों से ज्यादा समाज में मौजूद पितृसत्तात्मक सोच को बदलने और महिलाओं को हर क्षेत्र में व्यावहारिक बराबरी दिलाने का होना चाहिए।

पूरे विचार-विमर्श से यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषा और सामाजिक सोच एक-दूसरे से गहरे रूप से जुड़े हुए हैं। 'महिला डॉक्टर' या 'मर्दानी' जैसे शब्द अनजाने में ही सही, पुरुषों को मानक और महिलाओं को अपवाद के रूप में प्रस्तुत करते हैं। हालाँकि केवल शब्दों के बदलाव से सामाजिक बुराइयाँ समाप्त नहीं होंगी, लेकिन एक संवेदनशील और समतावादी भाषा का चयन समाज में रूढ़िवादिता को तोड़ने और नई पीढ़ी की सोच को सकारात्मक दिशा देने में अत्यंत सहायक सिद्ध हो सकता है।